

भक्ताङ्क

वर्ष ३

संख्या १

३६



वार्षिक मू० ४)

द्वितीय आवण कृष्ण ११ संवत् १९८५

इस अंकका १॥

* * * * *
श्रीहरिः

विषय सूची

पृष्ठसंख्या

पृष्ठसंख्या

(पहले पृष्ठका श्लोक काव्यतीर्थ, सांख्यतीर्थ, समृतितीर्थ, वेदवर पं० हरिवक्षजी जौशी रचित है)		
१-भक्तबन्धन सूरदासजी)	१	१६-भक्ति (जगद्गुरु द्वामीजी श्रीअनन्ताचार्यजी महाराज) ४३
२-नृनन वर्षकी भेंट	२	२०-अहो ! गिरिधारन ! 'कविता' (सेठ श्रीकल्हैयालालजी पोद्वार) ४६
३-भक्तोंका स्वरूप (श्रीदत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर)	३	२१-सच्चे वैरागी भक्त रांका बांका (श्रीरामदासजी गुप्त) ४७
४-महात्मार्जीका उपदेश ...	४	२२-श्रीगीता-भगवद्गीता-मीमांसा (विद्या-मार्तण्ड पं० सीतारामजी शास्त्री) ४८
५-हिंडोला (पं० आत्मदंशंकर बापूआईजी श्रुति, आचार्य विन्दु विश्वविद्यालय, काशी) ...	५	२३-भगवद्गीता तुकारामजी (श्रीदिनकर गंगाधर गोरे वी० इ०) ५६
६-अनन्त्य देव ही भक्ति है श्रीजयदयालजी गोयन्दका	६	२४-भक्त और चमत्कार (स्वामीजी श्रीरघुनाथ-दासजी) ५६
७-मालिकका दात, 'कविता' (कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ शाकुर) ...	७	२५-वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं (एक प्रेसी मिल) ६१
८-भक्ति और भक्तिकी साधना (श्रीभूपेन्द्रनाथ सन्ध्याक)	१०	२६-हरिनाम भजो 'कविता' (श्रीलालकुंभरिजी राजमाता, नीमाज) ६६
९-भक्तराज भाष्मपिता मह (श्रीरामदासजी गुप्त) १७		२७-महर्षि श्रीबालमीकिजी ७०
१०-भक्त कण्ठप्य चक्रवर्णी श्रीराजगोपालाचारी २१		२८-भक्त श्रीधर (परलोकगत श्रीमाध्वगौडे श्रावार्य मधुसूदनजी गोस्वामी सार्वभौम) ७१
११-भक्तिका स्वरूप और उससे लाभ (श्रीयाद्वजी महाराज) ...	२५	२९-श्रीज्ञानदेव महाराज (श्रीयुत 'अम्रवाल') ७६
१२-विनय 'कविता' (श्रीकेशरीकिशोर दशरणजी) २७		३०-भक्तवर सूरदासजी (श्रीरामदासजी गुप्त) ७८
१३-भगवान् धनसे प्रसन्न होते हैं या भक्तिसे ? (श्रीरामदासजी गुप्त) २८		३१-ईश्वरभक्तकी पहचान (पं० श्रीधासीरामजी, सम्पादक 'पारीक्षकाश' दिल्ली)
१४-धारिधर वीरे देत 'कविता' (पं० वैद्यनाथजी मिश्र 'विहङ्ग') ...	३०	३२-श्रद्धा और भक्ति (पं० श्रीरामपतिजी मिश्र घम्बुद) ८०
१५-भक्तसीसाईके महात्मा लन्त फूँसिस श्री श्री० एफ० एंडरसन) ...	३१	३३-ज्ञान, भक्ति और इनका सम्बन्ध (पं० श्रीगणेशदत्तजी ध्यास काव्यतीर्थ) ८१
१६-भद्रलदा-उद्धार 'कविता' (पं० रमापतिजी 'दिल्ली श्रीपति')	३८	३४-भक्तिकी विशेषता (स्वामीजी श्रीअन्त्युत-सुनिजी महाराज) ८१
१७-भक्तवर अर्जुन (श्रीरामदासजी गुप्त) ३६		३५-गुरु नानक ८३
१८-कर 'कविता' (मा० श्रीहरणुलालजी) ४२		३६-निष्काम भक्ति (श्रीमेलारामजी दैश्य) ८५
		३७-श्रीगदाधर भट्ट (श्रीरामदासजी गुप्त) ८७

३८-भक्ति-सुधा-सागर-तरङ्ग(श्रीयुत-यन्त्रारुदि) ६८	६६ भक्ति-प्रचारक चार प्रधान आचार्य १८६
३९-भक्तिमार्ग (देवर्पि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री) ११०	६७ सुआ पढ़ावत गणिका तारी १६१
४०-गुरुगौरव 'कविता' (श्रीवियोगी हरिजी) ११६	६८ नवधामक्ति और नौ भक्तोंके जीवनकी
४१-महाराज रनिदेव (श्रीरामदासजी गुप्त) ११८	विशेषता (पं० श्रीराधाकृष्णजी मिश्र) १६३
४२-गृहस्थमें भक्तिके साधन (श्रीहरिप्रबन्धजी अग्रवाल) ११६	६९ जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य, (विवेदोपाहृ श्रीभगवदासजी ब्रह्मचारी 'वेदरत्न') १६५
४३-भक्तिप्रियो माधवः (व्याख्यान वाचस्पति पं० श्रीदीनदयालुजी शर्मा) ... १२१	७० ज्ञानोपदेश 'कविता' (श्रीवैद्यनाथजी मिश्र 'विहूल') १६६
४४-शरणागतवत्सल महाराज शिवि (श्रीरामदासजी गुप्त) ... १२२	७१ गीतामें भक्ति (श्रीजयदयलजी गोयन्दका) २००
४५-असुरोंकी भगवद्भक्ति(श्रीरामनाथजी अग्रवाल) १२५	७२ श्रीश्रीअनन्त महाप्रभु (श्रीराघवदासजी) २०३
४६-भक्तकी चाह 'कविता' (वाणीभूषण पं० श्रीनन्दकिशोरजी शुक्ल) ... १२६	७३ चार प्रसिद्ध अग्रवाल भक्तोंका संक्षिप्त चरित २०६
४७-भगवत्-शरण (स्वामीजी श्रीभोलेश्वराजी) १२७	७४ बिगरी कौन सुधारे 'कविता' (श्रीअम्बा-प्रसादजी, चरखी दादरी) ... २०६
४८-गीतामें भगवत्-प्राप्ति (श्रीअनिलवरण राय, अरविन्दाश्रम, पांडीचेरी) ... १२७	७५ भक्ति (श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय सम्पादक 'त्यागभूमि') २१०
४९-मुसलमान साध्वी रविया १४४	७६ सन्तवर ! 'कविता' (पं०प्रेमनारायणजी लिपाठी 'प्रेम') २१६
५०-ईसाई तपस्विनी कैथेरिन(श्रीरामदासजीगुप्त) १४५	७७ भागवत-धर्मके ज्ञाता बारह भक्तराज (श्रीरामदासजी गुप्त) २१७
५१-सत्संगतिकी महिमा, कार्पासाराम वरद चरित (पं० द्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी) १४६	७८ यवन हरिदास (श्रीरामदासजी गुप्त) २२१
५२-निष्काम भक्त युधिष्ठिर(श्रीरामदासजी गुप्त) १४६	७९ हमारी जीभ 'कविता' (श्रीअवन्तविहारीजी माथुर 'अवन्त') २२२
५३-भक्तोंके भगवान्(श्रीघनश्यामदासजी गुप्त) १५१	८० सच्चा भक्त कौन है ? (परलोकगत स्वामी संगलनाथजी) २२३
५४-अनल-हक 'भक्त मन्सूरको शूली' (श्रीहीरालालजी अग्रवाल वेगूसराय) १५६	८१ लोकमान्य तिलक और देशबन्धु दास २२४
५५-प्रेम और कल्याणका मार्ग (पं० राम-सेवकजी लिपाठी, मैनेजिंग एडिटर 'माधुरी') १५८	८२ भक्तोंके लक्षण (मिश्र गौरीशंकरजी) २२४
५६-सद्वावतार भगवान्-मारुति (श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०) ... १६२	८३ कामना 'कविता' (कविवर पं० गंगासहाय-जी पाराशरी 'कमल') २२४
५७-विभुविधान 'कविता' (श्रीमैथिलीशरणजीगुप्त) १७१	८४ द्वैतमत स्थापनाचार्य श्रीश्रीमध्यवाचार्य (श्री आर० एस० हकीकिर एम० ए०) २२५
५८-आत्मसमर्पण 'कविता' (श्रीरामनरेशजीलिपाठी) १७१	८५ भक्तिप्रकाश (महन्त श्रीरघुवरप्रसादजी, बड़ा स्थान, अयोध्या) २२६
५९-उपदेश 'कविता' (श्री 'विहूल') १७१	८६ कल्याणमार्ग (श्रीहरस्वरूपजी जौहरी एम० ए०) २२७
६०-कामना 'कविता' (श्री 'तर्कवस्त') १७१	८७ कर्णाटकके भक्त श्रीजगन्नाथदासजी (श्री बी० बी० आल्हर बी० ए० एल० एल० बी०) २३१
६१-प्रेम और प्रेमके पुजारियोंका कुछ परिचय (पं० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) १७२	८८ श्रीमद्विद्यारण्य महामुनि (श्रीहरि राम-चन्द्रजी दिवेकर एम० ए०) ... २३२
६२-भक्त (पं०श्रीकन्हैयालालजी मिश्र, प्रभाकर) १८१	
६३-ज्ञान और भक्ति (श्रीरोनाल्ड निक्सन) १८२	
६४-भीलका सरल प्रेम (श्रीरामदासजी गुप्त) १८५	
६५-सद्गुरु रामयज्ञजी (रायबहादुर कुमार श्रीकोशलेन्द्रप्रताप याहिजी) ... १८७	

	पृष्ठसंख्या		पृष्ठसंख्या
८६ महाराष्ट्र-सन्त (बाबा राघवदासजी)	२३५	६५ नम निवेदन (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार, संपादक)	२४४
८० नानक वाक्सुधा (श्रीरामशरणजी)	२३८	६६ नये भक्तकी प्रार्थना 'कविता' (श्रीविन्ध्याचल प्रसाद 'विशारद')	२४५
८२ भक्तोंके भाव (श्रीज्वालाप्रसादजी कानोदिया)	२३९	६७ रक्षाबन्धन (बाबा राघवदासजी)	२४६
८२ मुक्ति (श्रीगुलाबरायजी एम० ए० एल० एल० बी०)	२४१	६८ प्रभो ! 'कविता' (प० बद्रीप्रसादजी आचार्य विशारद)	२४६
८३ चित्र--परिचय	२४२	६९ कल्याण कार्यालयकी पुस्तकें	
८४ भक्ति और ब्राह्मण जाति (श्रीरामकिंकर- प्रसादजी)	२४३	१०० भ्रम--संशोधन	
		१०१ विनय (टाइटल पेजके तीसरे पृष्ठपर)	

चित्रसूची

	पृष्ठसंख्या		पृष्ठसंख्या
१ भगवान श्रीकृष्ण ... (रंगीन) मुख्यपृष्ठ	१	२८ निष्कास भक्त रविया	१४५
२ भीमप्रियमह (रंगीन)	१	२९ तपस्त्विनी कैथेरिन	१४५
३ चरणसेवन-भक्त श्रीलक्ष्मीजी(रंगीन)	७	३० श्रीकृष्ण-कृष्णा	१५२
४ मालिकका दान	६	३१ चरण-पखारन	१५३
५ सरण-भक्त प्रह्लाद ... (रंगीन)	१५	३२ भरत-गुह मिलाप	१५६
६ श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर	२०	३३ मारुति-प्रभाव ... (रंगीन)	१६४
७ समर्थ रामदासजी और छ० शिवाजी	२६	३४ मीराबाई (सारपसे शालिग्राम)	१७०
८ पूजनभक्त ब्राह्मण और राजा चोल ...	३०	३५ प्रेमी भक्त रसखानजी ... (रंगीन)	१७८
९ ब्राह्मण और चाणडाल	३१	३६ चक्रिक भीलको भगवद्वर्णन	१८५
१० अहल्या-उडार ... (रंगीन)	३८	३७ सद्गुरु रामयज्ञजी	१८७
११ सख्य भक्त अजुन ... (रंगीन)	४२	३८ श्रीअनन्त महाप्रभुजी	१८७
१२ परमवैराग्यवान-भक्त-दम्पति रांका बांका	४७	३९ भक्तिके चार प्रधान आचार्य	१६०
१३ देवदेव भगवान् महादेव (रंगीन)	५१	४० सुआ पढ़ावत गणिका तारी (रंगीन)	१६२
१४ सन्त तुकारामजी	५७	४१ आचार्य श्रीमध्वाचार्यजी	१६६
१५ कंतन और ब्रवण भक्त श्रीशुकदेवजी और राजा परीक्षित ... (रंगीन)	६४	४२ वैष्णवाचार्य श्रीश्रीरामानन्दाचार्यजी	१६६
१६ देवपिं नारद और व्याध	७०	४३ श्रीविद्यारण्य महापुनि	१६७
१७ नहानुनि वालमीकिजी	७१	४४ सेठ रामदयालुजी नेवटिया	२०७
१८ सिङ्ग-भक्त ज्ञानदेवजी ... (रंगीन)	७६	४५ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी	२०७
१९ शरणागत-भक्त सूरदासजी	७८	४६ सेठ जयनारायणजी पोद्वार	२०८
२० गोस्वामी तुलसीदासजी	७९	४७ सेठ लक्ष्मीनारायणजी पोद्वार	२०८
२१ श्रीराम-जटायु	८५	४८ भक्तिके बारह आचार्य	२१७
२२ प्रेमानन्दा यिदुर पत्ती ... (रंगीन)	९२	४९ श्रीगौराङ्ग महाप्रभु	२२९
२३ वन्दन-भक्त अक्लूरजी ... (रंगीन)	१००	५० श्रीनित्यानन्द हरिदासका नाम वितरण	२२९
२४ नन्दुवकातर महाराज रन्तिदेव	११८	५१ देशबन्धु चितरञ्जनदास	२२४
२५ शरणागत-भक्त विभीषण	१२५	५२ लोकमान्य तिलक	२२४
२६ अद्मनिधेन-भक्त राजा बलि	१३०	५३ भक्त माधवदासजी ... (रंगीन)	२२४
२७ सख्य-भक्त लुदामाजी ... (रंगीन)	१३८	५४ गुरु नानक	२३७
		५५ माणिक्य महाप्रभु	२३७

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



दम्य स्वादुकलानि भोक्तुमभितो लालायिताः साधवः,
भ्राम्यन्ति द्यनिशं विविक्तमतयः सन्तो महान्तो मुदा ।
भक्तिज्ञानविगगयोगकलवान् सर्वार्थसिद्धिप्रदः,
मोऽयं प्राणिमुखावहो विजयते कल्याणकल्पद्रुमः ॥

भाग ३

टिर्नीय शावण कृष्ण ११ संवत् १९८५

{ संख्या १

भक्तवत्सल

वा पट पीतकी फहरान !

कर धरि चक्र चरनकी धावनि, नहि विसरति यह बान ॥
रथते उतरि आवानि आतुर हृद, कच-रजकी लपटान ।
मानो सिंह सैलते निकरथो, महामत्त गज जान ॥
जिन गुपाल मेरो प्रन राख्यो, मोटि वेदकी कान ।
सोइ सूर सहाय हमारे, निकट भये हैं आन ॥

(लूटदासजी)

नूतन वर्षकी भेट

बहुत गयी थोड़ी रही, नारायण अब चेत।
 काल चिरेया चुगि रही, निसिद्धि आय सेत॥
 काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
 पलमहं परलै होयगी, बहुरि करेगा कव॥
 रामनामकी लूट है, लूटि सकै तो लूट।
 फिरि पांचे पछितायगा, प्रान जायेगे छूट॥
 तेरे भावें जो करो, भलो बुरो संसार।
 नारायण तू बेटकर, अपनो भवन बुहार॥

उत्र बीत रही है, रोज रोज हम जीतके नजदीक
 पहुंच रहे हैं। वह दिन दूर नहीं है जब हमरे इस लोकने
 कूचकर जानेकी खबर अड़ीसी पढ़ीरी और सभे सम्बन्धियोंमें
 फैल जायगी। उस दिन राजा युद्ध गोदर हो जायगा। सारी
 शान धूलमें मिल जायगी। सबसे नाता दूट जायगा।
 जिनको मेरा मेरा कहते जीभ सूखती है, जिनके लिये आज
 लड़ाई उधार लेनेमें भी इन्कार नहीं है, उन सबसे सम्बन्ध
 दूट जायगा, उन कुछ पराया हो जायगा। मनका हवायहल
 पल भरमें ढह जायगा। जिस शशीरकी रोज घोंटकर
 सजाया जाता है—हरीं गर्भीं बचाया जाता है, जरासी
 हवासे परहेज किया जाता है—जजावटमें तनिहरी करूर
 संकोच पैदा कर देती है। वह रोने ला (?) जारी रखका
 देर होकर मिट्टीमें मिल जायगा। जानवर सारंगी तो बिधा
 बन जायगा, सड़गा तो कीड़े पड़ जायेंगे। यह उच्च बातें
 सत्य—परम सत्य होनेपर भी हम उस दिनकी दयनीय
 दशाको भूलकर याद नहीं करते। यही बड़ा अचरज है।
 इसीलिये युधिष्ठिरने कहा था।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमाल्यम् ।
 शेषाः स्थावरमिच्छान्ति किमाश्वर्यमतः परम् ॥
 प्रतिदिन जीव मृत्युके सुखमें जा रहे हैं पर वधे हुए

लोग असर रहना चाहते हैं इससे बढ़कर आश्वर्य क्या होगा ?
 अहमपव भाई, इखलार नह रहो। उस दिनको याद रखो,
 सारी शेषी चूर हो जायगी। ये शजामहल, सिंहासन, ऊँची
 ऊँची इमारतें, किनी काष्ठमें न आवेगी। बड़े शाकसे मकान
 बनाया था, सजावतमें धनकी नदी बहा दी थी पर उस दिन
 उस प्यारे महलमें दो घड़ीके लिये इस देहको स्थान न
 सिखेगा। घरकी सारी सालिकी छिनमें छिन जायगी। सारी
 पदम्पांडा जाती रहेगी।

इस जीवनमें विसीकी कुछ सलाई की होगी तो लोग
 अपने द्वार्धके लिये दो चार दिन लुभें याद करके शोलेंगे !
 सभाशीर्षे योंके प्रसाद पास कर रखें पूरी कर दी जायगी !
 हुँख देकर लरोगे तो लोग तुम्हारी लालायर थूकेंगे, वश न
 चलेगा तो नालायर तो लुपचाप जरूर ही थूकेंगे। बस, इस
 शरीरका इतना हा शत्रु यहां रह जायगा !

अभी कोई भगवान्का नाम लेनेको कहता है तो जवाब
 दिया जाता है 'मरनेकी भी कुरसत नहीं है, कामसे वक्त
 ही नहीं मिलता।' पर याद रखो, उस दिन आपसे आप
 कुरसत मिल जायगी। कोई बहाना बचेगा ही नहीं। सारी
 उठलकूद लिट जायगी—तब पछताचेगे रोओगे—पर, 'फिर
 पछताए का बने जन लिहिया दुग मर्थीं सेत' मनुष्य जीवन
 जो भगवान्को प्राप्त करनेका एकदात्र साधन था उसे यों
 ही खो दिया; अब बस, रोओ ! उम्हारी गफलतका यह
 नतीजा डीक ही तो है !

पर अब भी लेते ! विद्या-बुद्धि-वर्ण-धन-यान-पदका
 अभियान लोडकर लालताले परसाल्याकी शरण ले।
 भगवान्की शरणके दायरें ये सभी कुछ तुच्छ हैं, नगण्य हैं !

विद्या बुद्धिके अभियानमें रहोगे—कल क्या होगा ? तकं-
 वितर्क करोगे, हार नदे तो रोओगे—इश्वराय होगा। जीत
 देते तो अभियान बड़ेगा। अपने सामने दूसरोंको मूर्ख
 सभझोगे। हिंसा रिहित है इसी अभियानमें तो आज हमरे

ननये बड़े बड़े पुरखाओंकी सूचीनाका शाइक बखश दिया है। इस बुद्धिके अभिभावनेपर अद्वाका सत्यात्मा कर दिया, आज यसेथर भी कठोरीपर लोग जाने लगे। जो बात हमारी तुच्छ तर्कमें निष्ठ नहीं होती उसे हम किसीके भी कहनेपर कभी जानतेहों—पर नहीं! इष्टी दुरभिभावनेसे सत्यात्मा और जननेपर अनुभवित्विद्व बचनोंमें तुच्छ भाव देवा कर दिया। हम उहै कवियोंकी कलानामात्र व्याख्यनेलगे। इनके अभिभावने की हमें गहीब भाइयोंसे—अपने ही जैसे हाथ देनामें अद्वायेमें एकस्वर चुणा उत्पन्नकर एक दृष्टि हो देती बना दिया। व्यभिचार, अत्याचार, अनाचार इनके जनारे चिर संसो बन गये। उहैसे वडे पुरुष आज हमारी हुनीनी जहुके सामने दरीकोनें फेल हो गये!

पदमर्यादाकी तो बात ही निश्चाली है, जहाँ कुर्मीपर उठे कि भाँचे निर गयी, आपसमें उत्थ दिखायी रहने वाले विद्वां परत्वतामूळे हुमनार इतना घाषड़, दृष्टिनक्षी चौटीपर इतना इतना!! अरे, रावग—हिरण्य-इन्द्रु नरानं वसतीं होलोनेवालोंका पता नहीं लगा,

किर हम तो किप बागजी मूली हैं। सावधान हो जाओ। छोड़ दो इस विद्या-बुद्धि-वर्ण-धन—परिवार—पदके झटे प्रदक्षो, तोड़ दो अपने आप बांधी हुई इन सारी फांसियोंको, फोड़ दो भखा जगतके मायिकलुपका, जोड़ दो मन उस अनादिकालमें लिय बजवेवाली सोहनकी महा मायाविनी किमु मायानाशिनि नशुर भुखी—धनिमें और गोड़ दो—निश्चालिका बुद्धिको गतिको निज नित्य-निकेतन लिय अथ आत्मके द्वारकी और!

सदकी उत्त सर्वान्तर्यामीशी प्रतिमूर्ति समझकर सबसे अभिन्न ब्रेम करो !

इसका लालन है भक्ति, इसीलिये आज यह कलित्त कल्याण अपने कलित्त नृत्य वर्षकी भेड़में भक्त और भक्तिके सुशासने सुशासने सुगम्यित खिले हुए रङ्ग—विरजे फूलोंकी दीकरी लेकर परम कल्याणके लिये पाठकोंके दरवाजेपर खड़ा है—

अच्छा लगे तो सुधान्ध लेझर दवं दुखी बनो और दूसरोंको बनाओ !

जय भक्तवत्सल भगवान्की !

भक्तवत्सल स्वरूप

(ऐतक—श्रीहत्तात्रेय वाल्मीकी कालेक्टर)

हुम्मदादार सौमीको दुष्टिमें भक्तलोग नरम प्रसादिके, सौम्य प्राणीसे शालूब होते हैं। ‘असमधो न त्वं त्वं धृति धृति कोकि मशहूर है। लैकिन यह दान अनार सज्ज होती तो भारतवर्ष जैसे पराधीन न द्वये अविकाश जनता भक्तोंका हा दिखायी देता असली बात यह है कि सब्दे भक्त असाधारण बीर होते हैं। अपना हृदय, अपना मन, अपना सरीर और आकांक्षाएं ईश्वरको उदात्त उरके वे लिमीक हो जाते हैं। वे न डरते हैं न जानते, न डरने हैं सप्ताहसे। जिन्दा हुनु विद्वन्के नन लमान होती है। और वे जानते हैं कि अमनी विजय तो इन्द्रियोंके जीतनेमें ही है। विजन्दा जैसा विश्वविजेता अपनी वासनाओंका तुला नहीं। करुव करुव सारी दुनियाको वह है—मन लैकिन बड़ीभरके बासनाके वेगको वह तुला नहीं लकड़ना था। पर भक्तलोग प्रथम जान दर्ता जाते हैं कि अपनी वासनाएं अपने जाने देते हैं।

किर भी अकलोग नरमसे वर्धों मालूम होते हैं? कारण इतना ही है कि उनमें असाधारण उदारता, दृष्टि और दृष्टि होती है। जिन वस्तुओंसे सामान्य समुद्देश उत्सेजित हो सकता है वह उनको अपने भी नहीं करती है।

एक तरहसे यों कह सकते हैं कि भक्तोंमें असाधारण स्वाभिमान होता है। किसी भी तरहसे वे आमाको परास्त नहीं होने देते हैं। भक्तको पहचाननेकी कसीटी क्या है?

जिनके मन उच्चनीच भाव नहीं हैं वे भक्त हैं। शास्त्र अप्से हृदयवर्धकों जो अधिक मानते हैं वे भक्त हैं। जीवनयात्रामें दुनियाके बाहरकी किसी चीजसे जिनको आश्वासन मिलता है वे भक्त हैं।

जो अहंकी आलसी हैं वे विलकुल भक्त नहीं हैं। जो अपने माहात्म्यपर जीना चाहते हैं वे भक्त नहीं हैं। जो अपने प्रेमियोंके दोष ढंकते हैं वे भक्त नहीं हैं। जो समाजकी राजी रखनेके

वास्ते हीन लड़ीके हामी हैं वे भक्त नहीं हैं। जो समाजका अधिष्ठात देखते हुए भी डरके मारे चुप बैठ जाते हैं वे भक्त नहीं हैं। दुनियाके परिश्रमसे जो कायदा उठाते हैं लेकिन धर्मप्राप्त सेवासे नफरत करते हैं और उसे भंगर समझते

हैं वे भक्त नहीं हैं। जो मौका आनेपर दुर्जनोंको और जालिमोंको धिक्कारते नहीं हैं, कायरतासे बैठ जाते हैं वे भक्त नहीं हैं।

अगर सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो सच्चे भक्तोंमें स्वच्छ पानीके सभी गुण मालूम होते हैं।

महात्माजीका उपदेश

शुद्ध भक्तिका प्रायः लोप होगया है क्योंकि भक्तोंने भक्तिको सर्ती बना दी है। भगवान् तो कहता है कि भक्त वही बन सकता है जो सुधन्वाकी तरह उबलते हुए तेलमें कूद पड़े और हंसे अथवा जो प्रह्लादकी तरह प्रसन्नबद्धनसे जलते हुए स्तंभकी भेट करे जैसे परम मिलकी। मोहनदास करमचन्द गांधी।

(प्रतिलिपि)

महात्मा जी का प्राप्ति की
महात्मा जी को भक्तों के
महात्मा जी को अस्तीति वा दी है
महात्मा जी को वही महात्मा है
जीने वाले वाकाताहैं जो कुछ नहीं
की तरह उभलते हुए तब वे कूद
पड़े और हंसे अथवा जो प्रक्षेप की
तरह खसका बूँद ले गया हुआ लक्ष्मी
की गोदका है ऐसे खूब नहीं बढ़ा

महात्मा जी का प्राप्ति की

ईश्वरभक्तकी पहचान

(ले०—प० श्रीधासीरामजी शर्मा—संपादक 'पारीक प्रकाश' देहली)

जिसप्रकार ईश्वरभक्त होना कठिन है उसी प्रकार ईश्वरभक्तको जानना और समझना भी कठिन है। स्वयं सीधे सादे ईश्वरभक्त भी इस बातमें बहुत धोका खाया करते हैं। खी बच्चों और बेपढ़े या कम पढ़े मनुष्योंके लिये ईश्वरभक्तका परखना विशेष कठिन है।

बहुतसे मूर्ख मनुष्य पागल, छली, कपटी, दम्भी, पाखण्डी, मायावी, मतलबी और दुष्ट पुरुषोंको ही उनके बाहरका भेष देखकर ईश्वरभक्त मान बैठते हैं। यदि सीता महारानीजी रावणका कपटवेश पहले जानलेती तो शायद उससे न हरी जातीं और इसीप्रकार छोटी अवस्थावाले लड़के भी दुष्ट पुरुषोंका कपटरूप पहलेसे जान लें तो उनके माया जालसे बच सकते हैं।

साधारण रीतिसे जो पुरुष सत्यवादी, इन्द्रिय-निग्रही, ब्रह्मचर्यवती, स्वार्थत्यागी, दयालु, परोपकारी, क्षमाशक्ति, ज्ञानी, विनयी, सेवकभाव और निवैर होता है उसे ईश्वरभक्त समझना चाहिये। बहुतसे मनुष्य बाहरसे तिलक माला धारणकरके मुखसे ईश्वर नाम लेते हुए नजर आते हैं लेकिन उनमें बहुतोंके भीतरके भाव मलिन होते हैं। जो लोग ऊपरसे सादा चालचलन रखते हैं, सत्य और इन्द्रियदमन आदि अच्छे कार्य करते हैं उनको ईश्वरका प्रेम होता है। वे ही ईश्वरके सच्चे भक्त हैं। दुष्ट लोग भीतरके मलिन भाव छिपानेके लिये ऊपरसे ईश्वरभक्तिका सांग दिखाया करते हैं इसलिये उन्हें सच्चे ईश्वरभक्त न समझना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १२ श्लोक १३, १४में भगवान् ने भक्तकी पहचान बतार्हा है:—

अद्वैष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मर्यपि तमनो बुद्धिर्यों मङ्गकः स मे प्रियः ॥

वह पुरुष जो सब जीवोंसे द्रेष भाव न रखते, सबका प्रेमी, अकारण कृपालु, जिसके किसी बातमें ममता न हो, अहङ्कार न हो, जो सुख दुःखमें एक भावसे रहे, और दूसरेके दोषोंको क्षमा कर दे।

लगातार हानि या लाभमें एकसा संतुष्ट रहे, मनसहित इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते और मुझमें जिसका निश्चय हो ऐसा मेरा 'भक्त' मुझे प्रिय है।

जिसने दम्भ दूर नहीं किया, जो अविद्यान्धकारमें फँसा हुआ है, जिसकी आशाएं नहीं मिटी हैं, सबमें वासनाएं बसी हुई हैं, जिसका क्रोध नहीं गया है, जो अच्छे पुरुषोंका संग नहीं करता है उसे ईश्वरभक्त नहीं समझना चाहिये।

ईश्वरभक्त उसे ही समझना चाहिये जो दूसरोंको दुःख न दे, संकट पड़नेपर कष्ट सहनेके लिये तैयार रहे, सबकी भलाई करता रहे, ईश्वरमें दोष न निकाले, सब धर्मकथाओंको प्रेमसे सुने, किसीका माल न छिपा रखते, ईश्वरकी उपासना, पाठ, पूजा, प्रणाम आदि समयानुसार करता रहे उसे अवश्य ईश्वरभक्त समझना चाहिये।

ईश्वरभक्तके भाव बहुत ही शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं जैसा एक कविका वचन है—

मर जाऊं मांगू नहीं, अपने तनके काज ।
परमारथके कारणे, मोहिं न आवे लाज ॥

ईश्वरभक्तका चेहरा चमकदार होता है नेत्र नीचे और नरम होते हैं। वह सबका हितैषी होता है। उसका स्वभाव सरल होता है। शरीरके शृंगारसे उसे नफरत और सादगीसे प्रेम होता है।

श्रद्धा और भक्ति

(लेखक—पण्डितवर श्रीरमापतिजी मिश्र, बम्बई)



सी विशेष कारणके पराधीन हो जानेसे बुद्धिमें प्रायः एक प्रकारक दोषसा उत्पन्न होजाता है जिससे ध्येय पदार्थ का वास्तविक स्वरूप तो संशयास्पद ही रहजाता है और उस पदार्थका भान तथा निरूपण बुद्धिदोषके उत्पादक संस्कारोंके अनुसार किसी और ही रूपमें होजाया करता है। अनिच्छया बाधित होकर प्रमाणोंको प्रमाताके संस्कारोंका आश्रय लेना पड़ता है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष-अनुमिति या शब्दके अनुपाती सब ही विषयोंके तत्त्वनिर्धारणमें समकक्ष विद्वानोंके सिद्धान्त भी एक दूसरेसे अधिकांशमें विभिन्न हुआ करते हैं। नाम रूप और जातिकी अनिश्चित दशामें दूरस्थ वस्तुके प्रत्यक्ष विषयतया स्वरूपनिर्धारणमें जो बहुधा मतभेद अवगत होता है वहां भी बुद्धिदोष ही कारण माना जा सकता है। अनुमापक कारणमें अम्," आजाने-पर बुद्धिदोषके कारण अनुमान भी तकै बनकर अप्राप्त बनजाता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धिव्यापारके बिना किसी भी प्रमेयका प्रतिपादन शक्य नहीं कहा जासकता और बुद्धिका निर्दोष या समानदोष होना प्रायः असंभव ही प्रतीत होता है।

इस निर्दिष्ट विश्वप्रसूत सिद्धान्तके सार्वभौम आधिपत्यसे अन्यान्य मान्य विद्वानोंके समान मेरा भी अधीनता-विद्ययक सम्बन्ध है अतः सर्वप्रथम यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि लेखका उत्तरदायित्व केवल मेरे भ्रमपूर्ण विरस विचारोंको है शास्त्र-तात्पर्यके साथ विश्वासार्थ जोड़ा गया सम्बन्ध बहुत साधारण और स्वल्प है।

लक्षणसे पदार्थके निरूपणमें तत्पर विद्वान् इस रहस्यको भलीभांति जानते हैं कि लक्षणोंसे केवल साधारणतया समूहात्मक पदार्थोंका निरूपण साध्य किया जा सकता है। लक्षणोंका आश्रय इसीलिये लिया जाता है कि विभिन्न देशकालमें स्थित अपरिचित अपार पदार्थका बोध सुगमतासे अल्पकालमें होजाय। इस उपायसे पदार्थोंके बोधकी शैलीके आविष्कारने संसारपर अपार

उपकार किया है यह कहनेका अधिकार उन लोगोंको है जो स्वलक्षण और स्वरूपलक्षण लक्षणकी अनुपादेयता और अन्यवहारिकताको पूर्णरूपसे अवगत करते हैं। लक्षणसे तटस्थ लक्षणसे वस्तुके परिचय करने करानेसे पूर्व, परिचय वस्तुओंका एक समूह जो समानरूपसे किसी धर्मका पोषक होता है उन समुदायोंसे पृथक् किया जाता है जो भिन्न भिन्न धर्मोंके विरोधानुसंधानपूर्वक परिपोषक होते हैं। इस परिश्रमका फल यह होता है कि पदार्थगत धर्मोंके वर्गीकरण करनेमें सफलता और उन संसक्त धर्मोंके द्वारा पदार्थ-विभागकी क्रियामें प्रवीणता उद्भुद्ध होने लगती है। तो भी यह लुटि तो विशिष्ट व्यक्तियोंमें भी बनी ही रहती है कि उनसे भी नियतरूपसे वस्तुओंमें विद्यमान तारतम्यका ज्ञान स्वयं कदाचित् अवगत होनेपर भी लक्षणोंके विषय न होनेसे पर-प्रत्ययार्थ व्यक्त नहीं किया जासकता है। कहनेका आशय यह है कि लक्षणके, लेखके या उपदेशके द्वारा समान धर्मके सहारे साधारणरूपसे वस्तुका निर्देश या निरूपण साध्य है परन्तु तारतम्यका बोध अस्पष्ट होनेसे पूर्वरूपसे उपदेश्य नहीं है।

यद्यपि अनुभवी परोपकारी विद्वानोंने यह बतानेका यत्न किया है कि सर्व रज तम इन गुणोंके तारतम्यसे प्रतिकार्योंमें तारतम्य उत्पन्न होता है और यही कारण है कि चौरासी लक्षके स्वभावोंकी और समान स्वभावानुसार अमान संख्यक जीवसमूहकी ८४ लक्ष जातियोंकी अलग अलग विद्यमानता प्रामाणिक मानी जाती है। तो भी इसका आशय यह नहीं होसकता कि इतनेसे ही गुण-तारतम्यकी इतिश्री होजाती है। यह निर्देश दिग्दर्शन है, एक मनुष्य समुदायगत तारतम्यकी और दृष्टिपात करनेसे ही यह कहना पड़ता है कि इन मनुष्योंकी संख्याका ज्ञान साध्य है इनका पालन पोषण साध्य है परन्तु इनके स्वभावानुगमी तारतम्यका बोध मनुष्यप्रयत्नसे साध्य नहीं है।

प्रमाताके स्वभावकी ओर और स्वभाव-मूलक शृङ्गार आदि रसोंकी ओर ध्यान देकर पूर्वाचार्योंने श्रद्धा और भक्तिके तारतम्यका दिग्दर्शन कराया है उससे यह नहीं जान या मान लेना चाहिये कि श्रद्धा और भक्तिकी संख्या

इससे अधिक नहीं है। श्रद्धारके भेदोंके अनन्त होनेसे केवल श्रद्धार श्रद्धा और श्रद्धार भक्ति ही अनन्त प्रकारकी हैं। गीता आदि प्रन्थोंमें बताये हुए विद्या प्रकरणमें भेद भी दिग्दर्शन ही हैं। धर्मानुत प्रकरणमें दो हुई भक्तोंकी गुणवली भी दिग्दर्शन ही है।

शास्त्रमें श्रद्धाका लक्षण यह है। 'प्रत्ययो धर्मकायेषु श्रद्धा' धार्मिक क्रियाओंमें विद्यमान आस्था—विश्वासको श्रद्धा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि बुद्धिविशेषका नाम श्रद्धा है इस बुद्धिविशेषका सम्बन्ध जहांतक धर्मकायेंके साथ रहता है वहांतक वह बुद्धिविशेष श्रद्धाके नामसे प्रसिद्ध होता है। बुद्धिके बुद्धिविशेष बननेका कारण भी बुद्धिका धार्मिक-क्रियाओंके साथ संबन्ध ही है। कर्तव्य धर्मकार्यके उपदेशक शास्त्रमें निर्दिष्टफलके अवश्यम्भावमें शास्त्रके ज्ञाता गुरु-जनोंमें आस्थाका होना ही श्रद्धा है, फलके परोक्ष होनेपर भी उपायमें प्रवृत्त करनेवाली फलाशा भी श्रद्धा ही है। व्यवहार-धर्ममें भी श्रद्धाकी आवश्यकता रहती है। फलके दूरवर्ती होनेपर भी श्रद्धा ही व्यवहार-कार्यमें प्रवृत्त करती है। श्रद्धा साकांक्ष पदार्थ है यह जिस पदार्थको विषय करती है उसीके साथ इसका प्रयोग किया जाता है जैसे धर्ममें श्रद्धा, शास्त्रमें श्रद्धा, गुरुमें श्रद्धा, राजमें श्रद्धा इत्यादि यह लक्षण पारिभाषिक है।

अनुसंधानके बाद यह मिद्दान्त स्पष्टरूपसे सत्य प्रतीत होने लगता है कि श्रद्धा ही भावी संपूर्ण प्रेय और श्रेयसुखकी जननी है। श्रद्धा अन्ततोगत्वा अपने विषयके रूपमें अद्वावानको परिणत कर देती है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (गीता) इस उपदेशने श्रद्धाको ही समस्त कल्याण-परम्पराका सर्वस्व माना है। सामान्य प्रतिभाके उपयोगमात्रसे वृत्त विद्वान् वर्वाका यह ऊहपोह उपहासात्पद है कि इस उपदेशमें मात्रासे अधिक संभावनाकी सीमासे परे श्रद्धाके सम्बन्धमें अर्थ 'वादका निर्देश किया गया है। इस कथनके समर्थनसे पूर्व यह बतला देना उचित है कि इस सम्बन्धमें अन्यान्य शास्त्रोंका क्या मत है। 'कस्मिन्तु दक्षिणा प्रतिष्ठिते श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धतेऽथ दक्षिणां दशाति श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठिते' (बृह-अ० ३ प्र० ९) (दक्षिणाका आश्रय क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर है कि श्रद्धा—आस्तिक्यबुद्धि। उत्तरकी पुष्टिमें यह कहा गया है कि जब श्रद्धा उत्पन्न होती है

तो यजमान दक्षिणा देता है अतः कहा जाता है कि दक्षिणा श्रद्धाका आश्रय लेती है अर्थात् दक्षिणाका आश्रय आस्तिक्य बुद्धिस्वरूप श्रद्धा है। इस प्रन्थसे यह उपदेश दिया गया है कि श्रद्धाप्रधान यज्ञ होम दान आदि सब शुभकार्य श्रद्धास्वरूप हैं। श्रद्धाके अस्तित्व दशामें यावत् शुभ कर्मोंका फलप्रद होनेसे अस्तित्व है। श्रद्धाके अभाव दशामें फलशून्य होनेसे कृत कर्मोंका भी अस्तित्वभाव है। श्रद्धा और श्रद्धेय वस्तुके तादात्म्यमें जिनको सन्देह होता है वे 'तसिन्नेतसिन्नन्नो देवाः श्रद्धां जुहति तस्याः आहुतेः सोमो राजा सम्भवति' (छान्दो-ख० ४) उस देवलोककी अस्तित्वमें देवता लोग जिस आहुतिका हवन करते हैं उसका सोम राजा है। इस वस्तु स्थितिके अनुवादक श्रौत उपदेश पर विचार करें। उत्तर मिल जायगा कि अर्थात् नहीं है पदार्थमात्र अपनी श्रद्धाकी सृष्टि हैं। यहां श्रद्धाको ही आहुति कहा है। स्मार्तप्रकरणमें भी श्रद्धा ही यावत् अभ्युदयोंका कारण मानी गयी है। 'श्रुतिमात्रसाः सूक्ष्माः प्रधानपुरुषेवराणः। अद्वामात्रेण गृह्णन्ते न करेण न चक्षुषा ॥ कायड्येन बहुभिस्तथैवार्थस्य राशिभिः । धर्मः संपाद्येत् सूक्ष्मः अद्वाहीनैः सुररपि । अद्वाधर्मः परः सूक्ष्मः अद्वा ज्ञानं दुतं पयः । अद्वा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत् ॥' (अश्वि पु०) शास्त्रमात्रसे प्रमाणित ग्राहकरूपादि गुणोंके द्वारा अग्राह्य होनेके कारण सूक्ष्म प्रकृति पुरुष ईश्वर आदिका ज्ञानात्मक प्रहण केवल श्रद्धासे होता है न कि किसी ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रियसे। अद्वावान् पुरुषके अनुभवमें प्रधान पुरुष ईश्वर परलोक पुनर्जन्म आदिके साधक युक्ति प्रमाणोंका आविर्भाव और तादृश युक्ति प्रमाणोंके ऊपर विश्वासका आविर्भाव होता है अद्वाहीन हीन मनुष्योंको निर्दिष्ट पदार्थका अस्तित्व अलीक प्रतीत होता है यह व्यवहार सर्वानुभव-प्रसिद्ध है। देवता भी अद्वाहीन रहकर अनेक प्रकारके शरीरकष्टसाध्य योग जप तप आदिसे या प्रभूत धनके व्ययसे सूक्ष्म धर्मकी सम्पूर्णतया प्राप्ति नहीं कर सकते। श्रद्धा ही उत्कृष्ट अतीन्द्रिय अदृष्ट है। अदृष्टके उत्पादक होम और हवनीय द्रव्य श्रद्धा ही है। ज्ञान—आत्मानुभव भी श्रद्धा ही है धर्मप्राप्य त्वर्ग और ज्ञानप्राप्य मोक्ष भी श्रद्धा ही है यह संपूर्ण संसार श्रद्धारूप है—श्रद्धाका ही विवर्त है—श्रद्धाका ही परिणाम है या श्रद्धाका ही कार्य है। श्रद्धापूर्वक

अवलोकन करनेसे यह सिद्धान्त स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि उच्च नीच सभी पदार्थोंका अस्तित्व श्रद्धापदार्थमें अनुविद्ध हो रहा है। यह नाना वामरूपमें दृश्यमान संसार भी प्राणीसमूहकी श्रद्धाका ही विकास है। भगवान् श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्रके वर्णन-प्रसंगमें यह सिद्धान्त पुष्ट किया गया है। रङ्गमण्डपगत श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्रके स्वरूपको देखनेवालोंने निज निज श्रद्धाके अनुसुल्ह ही देखा था अनन्त-कल्याण-गुणराशिमेंसे या सर्वगुणविरक्त मन बचनके अविषय बस्तुमेंसे दर्शकोंको वे ही या वे गुण दीखने लगे जो पहलेसे ही उनकी श्रद्धामें सम्पन्न हो चुके थे। संपूर्ण व्यवहार या उसका अभाव श्रद्धामय है इस सिद्धान्तकी प्रत्यक्षरूपसे पोषक स्वग्रावस्था है। पुरीती नाड़ीके मध्यमें प्रवेश करनेके बाद निजनिर्मित जगत्के साथ क्रीड़ा करनेकी इच्छासे बाधित होकर जीवात्मा जिस सुषिका निर्माण करता है उसको जीव-सृष्टि संकल्प-सृष्टि या स्वामिक सृष्टि कहते हैं। इस सृष्टिके विलक्षण होनेमें या होनेमें श्रद्धा ही कारण है अर्थात् यह सृष्टि भी श्रद्धाका ही अन्यतम व्यक्तरूप है। किसी दूरस्थ स्थाणुका दर्शन भी यह सिद्ध करता है कि श्रद्धाके साम्राज्यका आरपार नहीं है। जिसकी खी खो गयी है और दूनेको निकला है उसको उस दूरस्थ स्थाणुमें खी होनेका सन्देह होता है। जो धन लेकर एकाकी जारहा है उसको आरण्यक तस्कर होनेका सन्देह होता है। इस दर्शन-वैज्ञान्यमें श्रद्धाही हेतु है। लतपुरुष धर्मराजने जो संसारको सारिवक भावमें देखा था और अविश्वास-नीतिमें नियुण सुयोधनने जो जगत्को जग्वृकके भावसे देखा था, इस भेद-दर्शनका कारण भी श्रद्धा ही थी।

निर्दिष्ट कृतिपथ प्रमाणों और तकोंकी सहायतासे यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि श्रद्धाका ही साम्राज्य सम्पूर्ण जगत् या यावत् प्रमाण प्रमेय व्यवहारपर है तो भी व्यवहारमें अभ्युदयके उन्मुख आस्तिक्यबुद्धिको ही श्रद्धा कहा जाता है। पदार्थके रूपको संकुचित बनाकर व्यवहार करना भी हृदिलक्षणासम्मत व्यवहार सर्वमान्य है। विश्वनाथको काशीनाथ या जगद्वाथको अयोध्यानाथ कहनेकी परिणामीमें उच्च व्यवहार ही साध्यक है।

‘स्त्रे मे सुखं चन्दनं मे सुखं भायो मे सुखं शरीरं मे सुखं स्थागो मे सुखं’ इन उदाहरणोंमें सुखके कारण स्त्रे चन्दन वनिता शरीर और तथागमें सुख शब्दका प्रयोग मिलता है

सही, परन्तु वास्तवमें माला चन्दन आदि सुख नहीं है किन्तु सुख विशेषके कारण हैं। इसी तरह ‘श्रद्धा स्वर्गः श्रद्धा मोक्षः’ इन उदाहरणोंमें भी श्रद्धाको स्वर्गका कारण या मोक्षका कारण समझना चाहिये। श्रद्धाको ही स्वर्ग या मोक्ष कहना एक प्रकारसे अनुभवका अपकाप करना है, यह भी एक मत है। इस सिद्धान्तके खण्डनमें लग जानेसे लेख विस्तृत हो जायगा और साम्प्रदायिक भेद उपस्थित होकर वैरस्य उत्पन्न करेगा। अतः समाधानकी उपेक्षा ही प्रस्तुत प्रतीत होती है। इस पक्षमें भी श्रद्धाकी शक्तिमें क्षति नहीं पहुंचती। यह पक्ष भी आस्तिकाभिमानीका ही है।

श्रद्धा संसारयात्मासे जब विरक्त होती है, जबसे इसको यह मालूम होने लगता है कि सांसारिक सुखका वर्णन अर्थवादपूर्ण है। अप्रासिद्धशामें अपेक्षित होनेके कारण जो जो भाव आकर्षक मालूम होते थे, प्राप्त होनेपर वे ही कभी कभी उद्वेजक बनने लगते हैं। तब यह श्रद्धा विरक्त होकर संन्यास प्रहण करती है और संन्यासप्रधाके अनुसार अपने नामको भी अन्यथा कर देती है अर्थात् श्रद्धा ही भक्ति कहाने लगती है। कर्म और उसके फलके सम्बन्धसे उदासीनता बतानेके लिये या कर्मफलसे तृप्त होनेके बाद उपरतिके आवेशमें आत्मभावका परिचय मात्र ही कर्तव्य कर्म अवशिष्ट रह जाता है इस सिद्धान्तकी सूचनाके लिये श्रद्धाका नाम परिवर्तन करना पड़ता है।

‘सा परानुरक्तीश्वरो’(ईश्वरविषयक निरतिशय प्रेम भक्ति है) भक्तिशब्दका प्रयोग अन्य पूज्य सत्कार्य विषयक प्रेम-स्थलमें भी होता है अतः विषयनिर्देश अनावश्यक है। अथवा तो यह लक्षण पारिभाषिक भक्तिका है, इस आशयका पोषक है। एक मत यह भी है कि ईश्वर शब्दार्थ व्यापक है इसके लक्षणमें रहनेपर भी कोई दोष नहीं है। किसी किसी विद्वानुका यह मत हो सकता है कि ‘ईश्वरः सर्वभूतानां’ इस गीता और ‘ईश्वरं प्रणिधानादा’ इस योगसूत्रकी ओर दृष्टिपात कर लक्षणमें ईश्वररूप विषयका निर्देश किया गया है। परन्तु यह मत पारिभाषिक लक्षणमें गतार्थ हो जाता है। सिद्धान्त तो यह है कि लक्षणगत ईश्वर शब्दका अर्थ आत्मा है और यह लक्षण पारिभाषिक भक्तिका है।

‘यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतुपश्च मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टस्त्य कार्यं न विद्यते।’ ‘अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय-सितः’ (गी०) (जो आत्माको बाह्य-वस्तु-निरपेक्ष सच्चिदानन्द

स्वरूप समझकर निवृत्तिपरायण हो जानेपर आत्मामें निरतिशय प्रेम करने लगता है, आत्मज्ञानसे अपनेको तृप्ति-परिपूर्ण मानने लगता है और आत्मातिरिक्त वस्तुओंमें अस्थिरताके भान होनेसे अनुरक्त होकर तन्मात्रमें ही स्थित परिपूर्ण तोषकी विषयताका ज्ञाता बन जाता है तो उसको और कोई कर्तव्य अवशिष्ट रहा मालूम नहीं होता है। (हे अर्जुन ! प्राणीमात्रका आत्मा मैं ही हूँ अर्थात् व्यष्टिका अभिमानी आत्मा मैं जीव हूँ और समष्टिका अभिमानी आत्मा मैं ईश्वर हूँ) इस सिद्धान्त-भूत उपदेशके रहस्यपर ध्यान देनेसे यह निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर शब्दार्थ समष्टिका अभिमानी आत्मा ही है अतः सूक्ष्म ईश्वर शब्द आत्माका पर्याय है।

‘यस्त्यक्त्वा प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरतिमुनिः । सर्वभूतात्म-भूतात्मा स्थाचेत्प्रतमागतिः’ (महाभा० शा० ५०) इस उपदेशका आशय भी यही है। आत्मामें अनुरक्त मननशील प्रमाता जब अपनेको—अपनी आत्माको प्राणीमात्रकी आत्मा मानने लगता है तो कल्पस्थानीय आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है और पुष्पस्थानीय कर्मका व्याग हो जाता है। ‘तत्रिष्ठस्य मोक्षोपदेशात्’ (ब्र० स०.) इस ब्रह्मसूक्तसे भी यही उपदेश मिलता है कि आत्माराम प्रमाता ही मोक्षका अधिकारी है। ‘आत्मायस्य क्रियार्थत्वादानार्थेक्यमतदर्थानाम्’ (ब्र० स०.) ‘त्रिगुण-विषया वेदा निष्ठैगुण्यो मवार्जुन’ (गी०) ‘सर्वे वेदा यत्प्रदमामननित वेदैश्च सर्वैऽप्यमेव वेद्यः ।’ इन वचनोंसे आविर्भावित महान् विचार-समुद्रके मथनसे भी यही सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि यावत् श्रद्धाका संसार व्यवहारिक रहता है वहांतक यथाधिकार कर्म करना ही शास्त्रीय पन्था है अनन्तर स्वाभाविक विरक्ति आजानेपर सर्वाङ्गुष्ट सर्पकी कंचुलीके समान कर्मसूचिके स्वतः अलग होकर विदा ले लेनेपर आत्मामें स्थित परिपूर्ण सुखके अन्वेषणमें तत्पर हो जाना ही शास्त्रीय ईश्वर भक्ति है।

ईश्वरको जगत्रियन्ता और जगत्को नियम्य मानकर इन दोनोंमें स्थित स्वस्वामिभाव भी अन्ततोगत्वा व्यवहार ही है। इससे ही सन्तुष्ट होजाना भजनमें एक प्रकारका अन्तराय उपस्थित होना है। व्यवहारकी मर्यादा व्यवहार-सम्बन्धी नियमोंके व्यागमात्रसे ही पिण्ड नहीं छोड़ती है। अलग की हुई नौकरानी अपनी जगह जहांतक दूसरी नौकरानीको नियुक्त नहीं देखती है वहांतक वह पुनः

स्थानपन्न होनेका उपाय करती ही रहती है। शास्त्रकारोंने व्यवहार-मर्यादाका अस्तित्व भेदभुद्विके अस्तित्वपर्यन्त माना है। ‘विज्ञानान्तर्यामिप्राणविराट् देहे पिण्डान्ताः । व्यवहार-स्थस्थात्मनं एतेऽवस्थाविशेषः स्युः’ (परमार्थसार) जहां तक यह अम बना रहता है कि मेरा विज्ञान अन्तर्यामी प्राण विराट् और देहके साथ भेदसम्बन्ध है वहांतक व्यवहार-का—अपरमार्थ संसारका अस्तित्व बना रहता है कारण कि विज्ञान अन्तर्यामी आदि भेदसे भासमान पदार्थ व्यवहारस्थ आत्माके अवस्थाविशेष-शक्तिविशेष है उक्त परमार्थसारका अनुभव केवल निजी सृष्टि नहीं है। ‘सर्वाण्येवैतानि प्रशानस्य नामधेयानि मवनित एष ब्रह्मेष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः’ (तत्पर्य—भेदसे भासमान ब्रह्मा इन्द्र प्रजापति शिव विष्णु आदि स्वामिस्थानापन्न ध्येय शास्त्रप्रमाण शास्त्र-विषय पदार्थ भी प्रज्ञानके—आत्माके नामविशेष हैं अर्थात् ‘अयं ब्रह्म अयम् इन्द्रः’ आदि व्यवहार अपरमार्थ हैं ‘अहं ब्रह्म अहम् इन्द्रः’ आदि व्यवहार ही परमार्थ हैं इत्यादि श्रुतियोंका अनुवाद है। भक्तिका मुख्य विषय आत्मा है इस सिद्धान्तकी पुष्टि व्यतिरेकरूपसे भेदोपासनाकी निन्दा-रूपसे भी की गयी है। ‘अथयोऽन्यां देवतासुपास्तेऽन्योऽहमस्तीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम् ।’ (जो यह समझता है कि मैं भक्त—उपासक भिन्न हूँ और मेरा उपास्य स्वामी मेरेसे भिन्न है वह देवताओं—विद्वानोंकी दृष्टिमें पशु पामर है) गीताकारने भी भेदभावको द्वितीय श्रेणीमें स्थान देना ही उचित समझा है। ‘पृथक्वेन तु यज्ञानं नानाभावान् पृथक् विधान् । वेति सर्वेषु भूरेषु तज्ज्ञाने विद्धि राजसम्’ आत्मसे अतिरिक्त विषयके संयोगसे जाथमान सुखको भी गीतामें द्वितीय श्रेणीका ही स्थान मिला है। ‘विषयेन्द्रियसंयोगाच्चत्तद्ग्रेऽमृतोपमम् । परिणमे विषमिव तत्सुखं राजसं स्वृतम्’ (तत्पर्य—भेदभावसे उत्पन्न सुख ये दोनों राजस कहे जाते हैं। आत्मातिरिक्तवस्तु—निरपेक्ष ज्ञान और सुखके सर्वश्रेष्ठ होनेमें श्रुति और स्मृति दोनों एक मत है। ‘एवं विज्ञानत् आत्मरतिरात्मकीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स्वराट्’ (छान्दो उ०) ‘यत्तदेवे विषमिव परिणमेऽमृतोपमम् । तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिमसादजम्’ (गीता) (आत्मातिरिक्त ईश्वरादि भिन्न वस्तु निरपेक्ष ईश्वराभिन्न आत्ममात्रसापेक्ष बुद्धि-विशेषरूप सुख ही वास्तवमें प्रथम श्रेणीका सत्त्विक-सुख है।

इस आशयको आरम्भमें स्पष्ट कर दिया है कि श्रद्धा और भक्तिकी अवस्थाएं अनेक हैं। तारतम्य-निर्देश-पूर्वक इनका लक्षण द्वारा परिचय कराना असाध्य है। अपनी अपनी इच्छासे हम लोगोंने श्रद्धा और भक्तिको भिन्न पदार्थ मान लिया है वास्तवमें ये दोनों आस्तिक्य बुद्धिकी अवस्थाविशेष ही हैं। कर्मप्रकरणमें अनुरक्त आस्तिक्य बुद्धिका श्रद्धारूपसे व्यवहार-निर्वाहार्थ अनुगम किया गया है आत्मज्ञानमें व्यापृत आस्तिक्यबुद्धिका भक्तिरूपसे व्यवहार-निर्वाहार्थ ही अनुगम किया है। व्यवहार, अविद्या, प्रेय, कर्मयोग आदि प्रवत्तिमार्गविहारी पदार्थ श्रद्धाके साथी हैं। परमार्थ, विद्या, श्रेय, सांख्ययोग आदि निवृत्तिमार्ग-विहारी पदार्थोंकी सहकारिणी भक्ति है अर्थात्—‘लोकेऽसिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानव। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।’ (सृष्टिके आरम्भमें मैंने ही ज्ञानयोग और कर्मयोग नामक दो साधनाओंको श्रेय और प्रेय फलके अर्थ कहा था ज्ञानियोंको ज्ञानके द्वारा श्रेय और कर्मियोंको कर्मके द्वारा प्रेयकी प्राप्ति होती है। श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतत्सौ संपरीक्ष्य विविन्दिति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो दृष्टिं प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते’ (कठ) (मनुष्यको कर्तव्यरूपसे ज्ञान और कर्म दोनों उपस्थित होते हैं धीर पुरुष प्रेयफलक कर्मसे श्रेय—मोक्षफलक ज्ञानको अधिक मानकर उसे ही अपनाता है। मन्द अधिकारी योगक्षेमपद होनेसे कर्मको ही अपनाता है) इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंमें बताये हुए कर्म और ज्ञानके साथ श्रद्धा और भक्तिका रुद्ध सम्बन्ध है। यहां यह जान लेना आवश्यक है कि अधिकारीके मन्द और धीर नामक भेद ध्यक्तिगत अवच्छेद-पार्थक्यके कारण नहीं बने हैं किन्तु अवस्था विशेषके कारण बने हैं। इस विषयकी पुष्टि ‘विद्या चाविद्यां च यस्तेऽदेव भव्यं सह। अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।’ (जो अधिकारी अविद्या और विद्या इन दोनोंको एक साथ जानता है वह अविद्यासे जन्म-मरणको पारकर विद्यासे मोक्ष प्राप्त करता है) इस मंत्रमें बड़े ढंगसे व्याख्या की गयी है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि अविद्या जन्म मरणके प्रवाहका हेतु है तथापि विद्याके आगमनको जानकर वह जन्म-मरण समुद्रका तारक बन जाती है। इसी तरह जो अविद्यामें—कर्ममें रत नहीं, वह विद्यावान्-ज्ञानवान्

नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तका स्पष्टरूपसे वर्णन रामगीताहीमें पाया जाता है। भगवद्गीताके प्रेमियोंसे मेरा अनुरोध है कि वे रामगीताको भी देखा करें। उक्त उपदेशका रहस्य यह है कि विद्या और अविद्या नामके दो उपाय स्वतन्त्रतया किसी फलके साधक नहीं हैं। मध्य मध्यमें प्रतीयमान फलोंमें वास्तवमें अनियत होनेसे फलतुद्धि करना भी बालुकाघटके छिद्रको बन्द करनेके लिये दक्षिणावर्त शंखका चूर्ण बनाना है। विद्यासे प्राप्य आत्मानन्दके अनुभवके लायक बननेके लिये विशिष्टरूपसे अविद्याका अनुष्ठान आवश्यक है। बिना कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डका दर्शन हुर्म्भ ही नहीं अलम्भ है। कर्ममें यह सामर्थ्य है कि विधिवत् सेवित होनेपर वह स्वर्गादिके समान, उससे भी अधिक सुखप्रद शान्ति दान्ति उपरति आदिका कारण बनकर निर्दिष्ट भक्तिका और परम्परया आत्मज्ञानका हेतु बन जाता है।

भक्तिकी परमहंसावस्था ही इसकी अन्तिम सिद्धि है। या चरम तारतम्य है जब यह अवस्था निकटवर्ती होती है तो भक्त एकान्तवासको पसन्द करने लगता है। जन-समुदायको विश्वेषका कारण समझने लगता है तथा हठी विघ्नदलके दलनमें समर्थ शास्त्र असंग ही है इस सिद्धान्तसे सहमत हो जाता है। अब विलम्ब करना अनुचित है यह जानकर परमात्मा भी अपनी ‘तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि दुद्धियेण तं येन मासुपयान्तिते’ (निरन्तर सावधानीसे प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं वह ज्ञान देता हूँ जिससे वह भक्त मुझे श्रीघंडी पहचानने लगते हैं) इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करता है। आवरणको अलग कर देता है और भक्तको तत्काल ही ज्ञानवान् बना देता है।

ज्ञानी भक्तके सभी संचित कर्म भस्ससात् हो जाते हैं वह ‘न शोचति न कांक्षति’ की सहचारिणी ब्राह्मी स्थितिको पाकर अपनेको ब्रह्मभूत मानने लगता है और यह जाननेके बाद कि इश्वरः सर्वभूतानां ह्येशोऽर्जुन तिष्ठति। श्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रास्तदानि मायया। ‘तमेव शरणं गच्छ’ इस स्मृतिमें ‘तत्, शब्दसे निर्दिष्ट और ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज’ इस स्मृतिमें निर्दिष्ट अस्तद्, शब्दार्थ परमात्मा एक ही है भक्त, भक्ति भगवान् इस भेदभावसे मुक्त हो जाता है अपनी ज्ञानेष्टिको पूर्ण हुआ मानने लगता है और सोऽहम्, हंसोऽहम् कहने लगता है !

अमुरोंकी भगवद्गति ।

(लेखक- श्रीरामनाथजी अग्रवाल, रालिवर)

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।

मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीतवाकर्म करोतु कायः ॥ (भागवत ६-११-२४)



ल्याणके' प्रेमी पाठकोंने दैवताओं
और मनुष्योंकी भगवद्गतिके
विषयमें बहुत कुछ पढ़ा सुना
होगा, किन्तु आज हम कुछ
अमुरोंकी 'भक्ति' का हाल सुनाते
हैं । राक्षसोंमें बहुत कम भगवद्-भक्त हुए हैं,
फिर भी जो हुए हैं उनमें कई तो बहुत ही उच्च
क्षोटिके और सर्वमान्य हैं । प्राचीन भागवतोंमें
दैत्य-राज प्रह्लादका नाम तो मुख्य है ही ।
असुरेन्द्र बलि महाराज भी एक प्रख्यात
भगवद्गत हुए हैं, जिन्होंने अपने भुजवलसे
उपार्जित की हुई तीनों लोकोंको सारी सम्पत्ति
भगवान् विष्णुको उनका कपट जानते हुए भी क्षण
भरमें दे दी और सत्यसे तनिक भी विचलित
नहीं हुए, यद्यपि शुक्राचार्यने उन्हें बहुत मना
किया था ।

रावणके छोटे भाई विभीषणका नाम तो आप
लोगोंने सुना ही होगा, वे भी बड़े न्यायनिष्ठ और
साधु पुरुष थे, किन्तु कुछ लोगोंने उनके चरित्रकी
बड़ी भद्री आलोचना की है । पर मैं उनसे पूछना
चाहता हूँ कि जब एक भाई पराई खीं चुरा
लाया हो और अपने दूसरे भाइयोंकी नेक सलाह
न मानकर उनकी लात धूं सोंसे खबर लेता हो,
उस समय दूसरे भाईका क्या कर्तव्य है? श्रीरघु-
नाथजीके चरणोंमें गिरते हुए विभीषणने दीन
वाणीसे कहा था—

अनुजो रावणस्याहं तेन चास्म्यवमानितः ।

त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ॥

श्रीरघुनाथजीने भी विभीषणका स्वागत
करते हुए बड़ा भावपूर्ण उत्तर दिया—

कहु लंकेस सहित परिवारा,
कुसल कुठाहर वास तुम्हारा ।
खल-मंडली वसहु दिन राती,
सखा धर्म निवहै केहि भांती ।
मैं जानी तुम्हारि सब नीती,
अति-नय-निपुण न भाव अनीती ।
वह भल वास नरक कर ताता,
दृष्ट सङ्ग जनि देहि विधाता ।

इस संवादसे भली प्रकार चिदित हो जाता
है कि विभीषण एक न्यायनिष्ठ भगवद्गतक थे,
केवल साधारण बुद्धिके असुर नहीं !

वृत्रासुरकी भगवद्गतिका भी उल्लेख श्रीमद्-
भागवतमें बड़ी सुन्दरतासे किया गया है । इस
लेखके आरंभमें जो श्लोक दिया गया है वह वृत्रा-
सुरने ही युद्धके समय भगवान् की प्रार्थनामें कहा
था, इसके सिवा और भी कई भक्त हुए हैं ! परन्तु
अभी मैं इस कथाका विस्तार न करते हुए
वृत्रासुरकी कथाके अन्तिम श्लोक देकर इस
निबन्धको समाप्त करता हूँ, मृत्युकालमें भक्त
वृत्रासुरकी क्या ही सुन्दर अभिलाषा है—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठयं,
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्चस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥

अजातपक्षा इव मातरं खगः
स्तन्यं यथा वस्तराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषणा
मनोऽरविन्दाक्ष दिट्क्षते त्वाम् ॥

ममोत्तमश्लोकजनेषु सद्यं
 संसारचक्रे भ्रमतः स्वर्कर्मभिः ।
 त्वन्माययात्मात्मजदारगोहे-
 प्यासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥

(भागवत ६। ११। २५ से २७)

“हे प्रभो ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्माका पद पृथ्वीका सावधौम राज्य, पातालका राज्य और आठों सिद्धियोंकी तो बात ही क्या है, मोक्ष भी नहीं चाहता । जिनके पंख नहीं निकलते हैं वे पक्षियोंके बच्चे जैसे भूखसे घबराकर माताके

आनेकी बाट देखते हैं, जैसे रस्सीमें बंधे भूखे बछड़े दूधके लिये आतुर होते हैं और जैसे काम-पीड़िता स्त्री अपने परदेश गये हुए परिको देखते के लिये व्याकुल होती है,-हे कमदनयन ! मेरा मन भी वैज्ञ ही आपके दर्शनके लिये उत्सुक है । मैं अपने कर्मोंसे संसारचक्रमें भ्रमण कर रहा हूँ आप पवित्रकीर्ति है । आपको मायावदा मेरा मन इस समय पुत्र, स्त्री, घर आदिमें आसक्त हो रहा है, हे नाथ ! ऐसी दया कीजिये जिससे मेरा मन इनमें आसक्त न हो और आपके भक्तोंसे मेरी मित्रता हो ।”

मक्तुकी चाह

(लेखक—पं० श्रीनन्दकिशोरजी दृष्टि, वार्णीमूलक)

(१)

यह सत्य है, हैं आप मुझमें और मैं हूँ आपमें,
 जलमें मरी ज्यों भाप है, वह भी भरा है भरनें ।
 हम आप दोनों एक हैं, है भिन्नता कहिये कहां,
 जिसमें नहीं हैं आप ऐसा तत्व किमुवनमें कहां ?

(२)

तो भी यही चित्त चाह है, सेवा करूँ नित आपकी,
 सच्ची लगन हो हे प्रभो ! तब नामके शुभ जापकी ।
 देखा करूँ सुन्दर तुम्हारी मूर्ति ही मनमोहनी,
 सुनता रहूँ सरसा कथा व्रत आपकी ही सोहनी ।

(३)

हे राम ! सेवक प्रार्थना यह पूर्ण कृपया कीजिये,
 दासानुदासोंमें दयाकर नाम मम लिख लीजिये ।
 है जीवके कल्याणका यह मार्ग ही उत्तम बड़ा,
 अतएव भगवन् ! शरणमें मैं आपकी ही हूँ पड़ा !

तत्, तत्, तत्, तत् तुम्हारे दिव्य दृज्ज नै कर्वं,
 दिव्, तेव, द्वाहते श्रद्धदा सत्तन्द चरणोदक धर्वं ।
 फिर प्रेमयिहृल मस्त होकर गान गाऊँ आपका,
 जो है विनाशक पापका, संतापका, त्रय तापका ।

(४)

लजादि पाशविमुक्त होकर प्रेममें पूरा पगूं,
 श्रीमूर्तिके समुख प्रसुदसे नाचने फिर मैं लगूं ।
 इससे अधिक सुख है नहीं, यदि हो न लंग मैं कभी,
 भवदर्चनामें ही मुझ आनन्द मिलता है सभी ।

(५)

एक मुसलमान सन्तका सदुपदेश

महात्मा अहमद अण्टाकी महान् साधक और तत्त्वज्ञेता पुरुष थे। आप अण्टाकिया नगरमें रहते थे। इनके सत्-वचनोंमें से कुछ यहां उद्धृत किये जाते हैं—

१-यदि तुम तत्त्वज्ञानी सन्तोंके साथ रहना चाहो तो श्रद्धा और निष्ठापूर्वक रहना, तभी उनकी कृपा तुम्हारे अन्तःकरणमें प्रवेशकर तुम्हें सन्मार्गपर चलानेवाला दूत बन जायगी।

२-वैराग्यके चार लक्षण हैं:—(१) ईश्वरमें विश्वास, (२) संसारसे उपरामता, (३) ईश्वरके प्रति विशुद्ध प्रेम और (४) धर्मके लिये कष्ट उठाना।

३-साधकके हृदयमें जो प्रभुके प्रति लज्जा और प्रभुका भय कम देखनेमें आवे तो उसे अल्पज्ञानी समझना चाहिये।

४-मनुष्य जितना ही अधिक ज्ञानी होता है, वह उतना ही अधिक नीतिवान् और ईश्वरभक्त होता है।

५-जब तुम अपना सच्चा कल्याण समझोगे और सोजोगे, तब तुम्हें अपनी कमज़ोरियाँ भी दिखायी पड़ेंगी और तब तुम मन बाणीके संयमके लिये प्रभुकी सहायता जरूर चाहोगे।

६-कौनसा दीनतासे अधिक उपकार होता है ? जिस दीनतासे तुम गंभीरप्रकृति और प्रसन्नचित्तवाले बन सकते हो उस ईश्वरके प्रति रहनेवाली दीनतासे न कि मनुष्योंकी दीनतासे।

७-जो ज्ञान तुम्हें दैवी सम्पत्तिकी ओर ले जाता है ईश्वरका उपकार माननेके लिये प्रेरणा करता है और लौकिक कामनाओंके हटानेमें सहायक होता है, वही सच्चा ज्ञान है।

८-जो इच्छाएं तुम्हारी कपटता, कुत्रिमता (बनावटांपन) और तुम्हारे आडम्बरोंको हटाती हैं वे दैवी इच्छाएं ही तुम्हारे लिये उपकारी हैं। लौकिक इच्छाएं नहीं।

९-जो मनुष्य छोटे पापोंको नाचीज् समझ-कर करता रहता है, वह थोड़े ही समयके अन्दर महान् पापोंमें फँसकर अन्तमें बड़ी भारी विपत्तियोंका शिकार बन जाता है।

१०-उत्तम मनुष्य जहां अध्यात्म विद्याके सुखसागरमें डूबा रहता है, वहां साधारण मनुष्य मूर्खकी तरह आलस्य और अज्ञानके कंटीले जंगलोंमें भटका करता है।

११-सब कामोंकी अपेक्षा अध्यात्मज्ञान प्राप्त करना ही सर्वोपरि लाभदायक है; क्योंकि ज्ञानकी प्राप्ति ईश्वर कृपाकी प्राप्तिके सदृश है।

१२-विश्वास एक ऐसी ज्योति है कि उसके एकत्रार हृदयमें प्रकट होते ही उसके प्रकाश द्वारा सारी पारलौकिक बातें अनायास ही समझा जा सकती हैं; इतना ही नहीं, उसके और परलोकके बीचमें बाधा देनेवाले सम्पूर्ण आवरण, पाप और विप्लोंको भी यह ज्योति जलाकर भन्न कर डालती है जिससे साक्षात् प्रभुकी प्राप्ति ही सकती है।

१३-यदि तुम प्रभुके हा प्रेमी हो अथवा प्रभुकी ही कृपा प्राप्त करना चाहने हो तो, जब तुम काई शुभ काम करो, तब उसके लिये लोग तुम्हारी वाह बाही करें, तुम्हें मान दें अथवा तुम्हारा स्मारक बनावें ऐसे लोकप्रतिष्ठाके भाव या किसी दूसरे लौकिक पदार्थका इच्छा जरासी भी अपने मनमें मत आने दो। इसीका नाम सच्चो सान्त्वकता (या निष्काम कर्म) है।

१४-तुम सत् कार्य करो, तब ऐसी लगत्से करो कि मानों सारे जगत्में वह कार्य केवल अकेले तुमको ही सौंपा गया है, और वह भी ऐसी गुप्त रीतिसे करनेके लिये सौंपा गया है कि जिसमें उसको केवल एक मालिक ही देख सके।

१५-मनुष्य अपने जीवनके बाकी दिनोंका यदि सदुपयोग करे तो वह पहलेके सारे दोषों और पापोंको धोकर क्षमा पा सकता है।

१६-आन्तरिक रोगकी पाँच दबाइयाँ हैं—(१) सत्संग, (२) धर्म शास्त्रका अध्ययन, (३) स्वल्प आहार विहार, (४) रातकी और प्रातःकालकी उपासना और (५) जो कुछ किया जाय सो एकाग्रतापूर्वक और सारी शक्ति लगाकर करनेकी पद्धति।

१७-सदाचरणके दो प्रकार हैं—(१) जन समाजके साथ धर्म और नीति-पूर्वक बर्ताव करना, इसका नाम बाह्य सदाचार है और (२) प्रभुके प्रति ध्यान, भजन, श्रद्धा, प्रार्थना, संतोष, कृतज्ञता, उनके दर्शनकी आतुरता, प्रेम और उनका आज्ञापालन आदि रूप जो आचरण

किये जाते हैं, वे आन्तरिक सदाचार हैं।

१८-प्रभुके प्रति प्रेमके चार लक्षण हैं—(१) साधनमें आड़म्बरका अभाव, (२) निरन्तर अध्यात्म-चिन्तन, (३) एकनिष्ठ प्रेम और (४) मौन भावका सेवन।

१९-सच्चा साधक जहांतक प्रभुका प्रेमी नहीं बन जाता, वहांतक लोगोंको अपना भाव नहीं दिखलाता, कोई बुलवाना चाहता है तो भी बोलता नहीं, विष्णुमें घबराता नहीं, सम्पत्तिमें फूलता नहीं, डरता नहीं और किसीको डराता नहीं। किसीको बचन देता भी नहीं और लेता भी नहीं।

२०-भयका फल पापोंसे दूर रहना और परमात्माकी श्रद्धाका फल उसे खोजना है। जो मनुष्य अपनेको नीतिवान् या उपदेशक बताता है परन्तु पापसे दूर नहीं रहता; या जो अपनेको श्रद्धात्म और भक्त बतलाकर भी प्रभुकी खोज नहीं करता या उसकी आज्ञाका पालन नहीं करता, ऐसे दोनों ही मनुष्य सर्वथा झूठे, बड़े पाखण्डी और महान् ठग हैं*।

आश्वासन !

होनी थी जो कुछ हाय ! सो तो अब हो ही चुकी,
व्यर्थ ही के लिये अब, यह रोना-धोना है !
आँसूसे भिगोना वस्त्र, खोना समयका वृथा,
याही गति एक दिन—सब हीकी होना है !!
'विहूल' इस देहके—वास्ते न रोना इष्ट,
यह तन मानों एक-मिट्टीका खिलौना है !
मूर्तिकार मूर्ति यूँ ही—बिगाड़ता नित्य—प्रति,
बनाता नमूना नित्य—दूसरा सलोना है !!

—द्यनाय मिश्र 'विहूल'